



THE TIMES OF INDIA

Date: 03-05-17

How India can do UBI

Universal Basic Income is a practical solution to poverty and inequality



The old idea of universal basic income (UBI) – of the state paying everybody a uniform amount as part of welfare – is getting some traction in political discourse worldwide. On the left, it is regarded as a simple antidote to poverty. On the right, it is viewed as a means to demolish complex welfare bureaucracies while meeting some social transfer obligations without weakening work incentives significantly.

In India, apart from its anti-poverty potential, it can also be a substantial measure to improve autonomy (say, of adult women, three-quarters of whom do not earn income) and dignity by giving workers an escape ladder from socially despised occupations (scavenging, waste-carrying, prostitution, etc). I have heard people, otherwise favourably disposed to the idea of UBI, opposing it primarily for reasons of ultimately political expediency. Some fiscal bureaucrats/ economists say that we cannot afford it as it'll simply be an add-on to the fiscal burden since the vested interests against replacing existing welfare programmes are too strong. Another group, mainly social activists, come from the opposite end: they say talking of UBI is a ploy to politically undermine some of the existing welfare programmes which are working reasonably well. I have some disagreement with both groups.

Let me first clarify some issues of the fiscal space which both groups raise. The most recent estimates (made at the National Institute of Public Finance and Policy) suggest that (central plus state) subsidies that mainly go to better-off people ('non-merit subsidies') amount to about 5% of GDP. In addition the central budget alone shows 'revenues foregone' (primarily tax concessions to companies) coming to about 6% of GDP. Even if one-third of these revenues foregone are made available for this purpose, added to the non-merit subsidies, it comes to 7% of GDP potentially available for UBI, which is a substantial sum, more than twice the total amount currently spent on all anti-poverty programmes. Moreover, there is no reason why we should assume there is no scope for more taxation. The tax-GDP ratio in India is substantially lower than in China, Brazil and some other developing countries. Our real estate and property tax assessments are absurdly low compared to their market value. We have zero taxation of agricultural income, long-term capital gains in equity markets, and of wealth and inheritance – this is at a time when our wealth inequality is mounting (even from NSS household survey data which underestimate the wealth of the rich, the standard Gini coefficient measure of asset inequality rose from 0.66 in 1991-92 to 0.75 in 2011-12, which is now in the Latin American range).

So if India can divert some of the subsidies (and revenues foregone) from their current better-off recipients and introduce significant fresh taxation of the rich, UBI of about a thousand rupees per person per month is fiscally affordable. I'd not object if with a smaller UBI, part of the extra revenues are spent on public goods like health, education and infrastructure. Some resources may also be released by terminating some of the particularly wasteful welfare programmes, but I am against UBI replacing current programmes like ICDS, mid-day meals, and MGNREGA. As an experiment UBI may begin only with women, maybe in urban areas until banking services spread to remote areas and in states where current welfare measures are particularly leaky.

I am often asked, do you want to pay this money even to the rich? Yes, primarily because normatively i want UBI as part of a basic right of every citizen to minimum economic security. (Practically, if some asset threshold can be transparently implemented to exclude the very rich, i'll not object. The history of targeting in India is, unfortunately, riddled with controversy and corruption). To the extent UBI is funded by taxes and withheld current subsidies to the rich, the money otherwise is already going to the rich. Also, part of UBI to the rich will return to the government in the form of taxes. For far too long the default redistributive option for Indian politicians has been job reservation and subsidisation of private goods (food, fertilisers, fuel, credit, etc). I want bureaucratic and political attention to be focussed more on public goods and welfare services that are universal – like UBI, universal healthcare, etc – away from the structures of patronage distribution to particular groups or individuals.

Of course, the better-off in India – businessmen, rich farmers, the salaried class – will not easily give up on the subsidies and handouts they currently enjoy. This means we should think in terms of mobilising public opinion and activate social movements on a platform like UBI. In particular, as the workers in the informal sector will be the largest beneficiaries of UBI, it can provide a common bridge between them and the unionised formal sector workers, a divide which for many years has weakened the labour movement. Today about one-third of workers even in the organised sector are contract labourers deprived of most benefits. Unions have been demanding benefits for the latter for some time; their struggle will be strengthened if it now becomes part of a much larger movement for UBI. One should have no illusion about the difficulties in the political process for implementing UBI. But one thing going in its favour is that it attracts support from people in different parts of the political spectrum, which may someday generate a winning coalition.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 03-05-17

राजकोषीय घाटे का इलाज संस्थागत सुधार से मुमकिन

बजट को नियंत्रित करने के लिए संविधान में राजकोषीय उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने वाले प्रावधान हों और बॉन्ड बाजार की अड़चनें दूर कर दी जाएं। बता रहे हैं अजय शाह

भारत की राजकोषीय समस्या काफी विकट हो चुकी है। अर्थशास्त्रियों ने बजट को नियंत्रित करने वाले संसदीय नियम का खाका तैयार करने और उसे लागू करने पर 20 साल तक काम किया है। लेकिन इस राह में बड़ी बाधा संविधान में वर्णित धन विधेयक की अवधारणा के चलते खड़ी हो रही है। धन विधेयक की राह अपनाने से सरकार के लिए राजकोषीय उत्तरदायित्व से बचने के साथ ही बजट को क्रियान्वित कर पाना भी खासा आसान हो जाता है। बजट को नियंत्रित करने के लिए हमारे पास केवल दो रास्ते ही हैं। पहला, संविधान में राजकोषीय उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने वाले प्रावधान किए जाएं और दूसरा, बॉन्ड बाजार की अड़चनें दूर कर दी जाएं। भारत लंबे समय से राजकोषीय घाटे का सामना कर रहा है। सशक्त सार्वजनिक वित्त में अक्सर मामूली प्राथमिक आधिक्य भी शामिल होता है। इसके अलावा संकट के समय कभी-कभार भारी घाटे की भी स्थिति पैदा हो जाती है। अधिकांश समय हम प्राथमिक घाटे में ही रहते हैं। गत 15 वर्षों से हमारा घाटा सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का करीब 2.5 फीसदी तक रहा है। हमें ऐसे संस्थागत सुधार करने होंगे कि राजकोषीय घाटे को लंबे समय तक सीमित दायरे में रखा जा सके। अर्थशास्त्री पिछले दो दशकों से भारतीय राजकोषीय दशा को दुरुस्त करने वाले संसदीय कानून की रूपरेखा तैयार करने में लगे हुए हैं। भारतीय लोक नीति में यह लक्ष्य हासिल कर पाना काफी हद तक द्विदलीय व्यवस्था का अंग रहा है। अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के

समय यह काम शुरू हुआ था और मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्री रहते समय इसे लागू किया जा सका था। राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन (एफआरबीएम) अधिनियम के वजूद में आने पर भारत के सभी अर्थशास्त्रियों को गर्व का अहसास हुआ था।

हालांकि एफआरबीएम अधिनियम वांछित परिणाम दे पाने में नाकाम रहा। इस पूरी कवायद में 15 साल का वक्त बीत चुका है और हमारे पास नतीजों के रूप में 2.5 फीसदी जीडीपी का राजकोषीय घाटा ही है। ऐसे में सवाल खड़ा होता है कि यह कानून मनचाहे नतीजे दे पाने में क्यों नाकाम रहा है? प्रतीक दत्त, राधिका पांडेय, इला पटनायक और मैंने इस विषय पर एक शोधपत्र में विचार किया है। इस शोधपत्र के सारांश को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। भारत के संविधान में धन विधेयक की अवधारणा मौजूद है। कर और खर्च का प्रावधान करने वाले वित्त विधेयक के रूप में हरेक साल एक धन विधेयक संसद में पेश किया जाता है। सत्ता पक्ष के लिए इस विधेयक पर चर्चा के दौरान बहुमत के साथ मौजूदगी आवश्यक होती है। ऐसा नहीं होने पर सरकार गिर जाती है। संविधान के 110वां अनुच्छेद में धन विधेयक में समाहित बिंदुओं का जिक्र है। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि एफआरबीएम कानून में किए गए सुधार धन विधेयकों में भी लागू किए जा सकते हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि राजकोषीय उत्तरदायित्व का संसदीय कानून अब सत्ताधारी दल के लिए बाधा नहीं रह गया है। वित्त विधेयक पेश करते समय राजकोषीय उत्तरदायित्व कानून में संशोधन भी कर देना आसान है जिससे यह कानून निष्क्रिय हो जाता है।

मसलन, एफआरबीएम अधिनियम 2003 में राजस्व घाटे को 31 मार्च 2008 तक खत्म कर दिए जाने की बात कही गई थी। लेकिन अगले ही साल पेश किए गए बजट में इस समयसीमा को संशोधित कर वर्ष 2009 कर दिया गया। वर्ष 2012 में एक बार फिर इस सीमा को बदलकर 2015 कर दिया गया। जब 2015 का समय आया तो समयसीमा को बढ़ाकर 2018 कर दिया गया। कानून की नाकामी के पीछे यह बड़ी वजह रही है। बजट प्रक्रिया को नियंत्रित करना इस कानून का सार रहा है। दुनिया भर में लगभग हरेक जगह राजकोषीय उत्तरदायित्व संरचना को शक्तियां दी गई हैं। अमेरिका में अगर तय सीमा के भीतर बजट पारित नहीं हो पाता है तो एक तरह से सरकार ही बंदी की स्थिति में पहुंच जाती है। जर्मनी के संविधान में फेडरल डेट ब्रेक का जिक्र है जिसका उल्लंघन करने पर सरकारी भुगतान रोक दिया जाता है। वहीं भारत में एफआरबीएम कानून केवल वित्त विधेयक में कुछ पंक्तियां जोड़ने तक ही सीमित रह गया है। अगर किसी राजकोषीय उत्तरदायित्व कानून में बजट प्रक्रिया नियंत्रित करने की शक्तियां नहीं दी गई हैं तो वह खुद ही अप्रासंगिक हो जाता है।

इस कानून की नाकामी विधायी अभियांत्रिकी में भी निहित है। जब तक धन विधेयक की मौजूदा प्रवृत्ति संविधान में बनी रहती है, तब तक राजकोषीय उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने का इकलौता असरदार कानून संविधान में वर्णित नियम ही रहेगा। इन अवरोधों का सम्मान करने के लिए वित्त विधेयक को लागू करना होगा। इस संवैधानिक संशोधन को राजनीतिक रूप से व्यवहार्य बनाने के लिए आम लोगों को यह अहसास करना जरूरी है कि राजकोषीय समस्या उन्हें गहरी चोट पहुंचा रही है। इसके लिए तकनीकी और क्रियान्वयन स्तर पर दोतरफा प्रयास करने की जरूरत होगी। एक तरफ तो हमें जर्मनी की तरह संविधान में ही इंडियन डेट ब्रेक का प्रावधान करना होगा और फिर आम लोगों को उसके बारे में बताना भी होगा। कुछ जानकारों का मानना है कि भारत में राजकोषीय उत्तरदायित्व कानून को कुछ ज्यादा ही तवज्जो दी जाती है। उनका कहना है कि राज्य को नियंत्रित करना अपने आप में एक जटिल समस्या है और ऐसे में केवल इस कानून पर ही सारा बोझ नहीं डाला जा सकता है। हमें बजट प्रक्रिया को दुरुस्त करने के लिए कर्ज लेने की लागत जैसे साधन का भी इस्तेमाल करना चाहिए। किसी भी सुचारु व्यवस्था में बॉन्ड बाजार को किसी भी केंद्रीय, राज्य या स्थानीय सरकार की कर्ज लेने की क्षमता का आकलन करना चाहिए। अगर सार्वजनिक वित्त की स्थिति सही नहीं हो तो बॉन्ड बाजार को ऊंची ब्याज दरों की मांग भी करनी चाहिए। लेकिन भारत में बॉन्ड बाजार पर अवरोध के चलते इस तरह का नियंत्रण एवं संतुलन नहीं रहा है। मसलन, बैंकों को अपने जमा का 21 फीसदी सरकार को कर्ज के तौर पर देना पड़ता है भले ही उन्हें जितनी भी ब्याज दर क्यों न दी जाए? इस समस्या को दूर करने के लिए पीडीएमए और बॉन्ड बाजार सुधारों की भी जरूरत होगी।

Date: 03-05-17

कर से परे कृषि

लंबे समय से यह चर्चा चलती रही है कि करदाताओं की संख्या बढ़ाने के लिए कृषि आय को भी कर दायरे में शामिल किया जाना चाहिए। हाल ही में नीति आयोग की कार्ययोजना पेश करते समय आयोग के सदस्य विवेक देबरॉय ने कृषि आय को कर प्रणाली में शामिल करने का सुझाव बताकर इस विवाद को जन्म दे दिया। हालांकि देबरॉय के बयान के तत्काल बाद वित्त मंत्री अरुण जेटली ने इस संभावना को खारिज कर दिया। जेटली ने कहा कि कृषि आय पर कर लगाने की सरकार की कोई योजना नहीं है। नीति आयोग के उपाध्यक्ष अरविंद पानगडिया ने भी कहा कि सरकार किसानों की आय को दोगुना करने की योजना बनाने में लगी हुई है। लिहाजा कर लगाने का सवाल ही नहीं उठता है। इसके बावजूद देबरॉय के बयान से निकले संदेश को अच्छी तरह से लिया गया है।

अगर सरकार कर दायरा बढ़ाना चाहती है तो उसका स्वाभाविक तरीका यह है कि करारोपण से दी जाने वाली छूटों और अपवादों को या तो खत्म कर दिया जाए या न्यूनतम किया जाए। देबरॉय की राय के मुताबिक एक खास सीमा से अधिक कृषि आय पर ही कर लगाया जाना चाहिए। हालांकि पानगडिया आशंका जता चुके हैं कि ऐसा करना सरकार के अन्य लक्ष्यों के साथ टकराव पैदा करेगा। इसके अलावा सियासी नजरिये से भी इस राह पर कदम बढ़ा पाना सरकार के लिए खासा मुश्किल होगा। लेकिन यह ध्यान रखना भी अहम है कि कृषि आय को कर दायरे में लाने से होने वाला राजकोषीय लाभ कम ही होगा। इसकी वजह यह है कि कर दायरे में लाए जाने वाले किसानों की संख्या काफी कम होगी। दरअसल पिछले कुछ दशकों में भारत में खेतों का आकार लगातार सिकुड़ता चला गया है जिससे कृषि अधिक लाभ का काम नहीं रह गया है। खेतों के बंटवारे से खेतों का औसत आकार काफी छोटा हो गया है। हालत यह है कि देश के 86 फीसदी से अधिक खेत आकार में दो हेक्टेयर से भी छोटे हैं। वर्तमान वित्त वर्ष में 2.5 लाख रुपये से अधिक आय पर ही कर लगाने का प्रावधान किया गया है। लेकिन राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के नवीनतम आंकड़ों की मानें तो 10 हेक्टेयर से अधिक खेत वाला एक कृषक परिवार भी साल भर में औसतन 2.35 लाख रुपये ही कमा पाएगा। इस तरह कृषि आय पर निर्भर बहुत कम परिवार ही कर दायरे में लाए जा सकेंगे। अगर बढ़ते राजकोषीय बोझ के चलते ऐसा फैसला किया जाता है तो उसके लिए कई अन्य तरीके भी हो सकते हैं

। कृषि आय पर कर लगाने से अच्छा है कि कृषि क्षेत्र को समर्थन मूल्य और अन्य तरीकों से दी जा रही तमाम सब्सिडी पर रोक लगा दी जाए। इसके स्थान पर कई देशों में लागू प्रत्यक्ष आय समर्थन का तरीका आजमाया जा सकता है। लेकिन इस आय को कुछ समय बाद अर्जित आयकर प्रणाली में शामिल करने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। इससे लोग स्वेच्छा से कर प्रणाली का हिस्सा बनने के लिए प्रोत्साहित होंगे। हालांकि अगर सरकार इसे लेकर चिंतित है कि कृषि आय पर मिली छूट का इस्तेमाल अन्य स्रोतों से हुई आय पर कर देने से बचने के लिए किया जा रहा है तो कर नियमों को अधिक प्रभावी तरीके से लागू करना ही उसका सही तरीका हो सकता है। निश्चित रूप से कृषि आय पर कर लगाने जैसे प्रस्ताव पर फैसला करने के पहले सभी बिंदुओं पर गौर करना होगा। इसके अलावा नीति आयोग को भी ग्रामीण क्षेत्र के लिए कारगर संरचनात्मक बदलावों पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

Date: 02-05-17

Higher education, low regulation

Regulators were meant to promote excellence in institutions. They didn't



The University Grants Commission (UGC) notification, that higher educational institutions once selected for being developed into world-class universities, shall be freed of regulatory clutches, is a public admission that regulation is a major stumbling block in promoting excellence in education. The idea is further reinforced by the Ministry of Human Resource Development (MHRD) moving to significantly reduce its involvement in the constitution of the IIM board and the selection and appointment of their chairperson and directors. Disquieting as these may sound in view of the long-held belief that higher education is too important to be left to the vagaries of market forces, and that regulations are supposed to set norms and standards to ensure quality and promote excellence,

the harsh realities on the ground leave one with no option but to concur with this approach.

Time bears this out. The first three universities in modern India were established in 1857, whereas the first regulator of higher education, the UGC, came about only in 1956, though a loose coordination mechanism, the Inter University Board (IUB), a precursor to the present Association of Indian Universities (AIU), had come into existence in 1925. Thus, in the first phase spanning over seven decades, higher education in India grew on its own, in a self-regulatory environment.

This period saw the establishment of 23 universities, all of these regarded as better institutions, so much so that 13 of them (or 57 per cent) are listed in the top 100 universities in the MHRD-led National Institutional Ranking Framework (NIRF) listing. The second phase that commenced with the formation of the IUB lasted for three decades, during which universities continued to function as autonomous bodies, with a loose coordination and consultation mechanism to guide them. During this period, 37 universities were established in the country — of which as many as 15 (41 per cent) are today ranked in the NIRF list of the top 100. The third phase began with Parliament enacting a law to establish the University Grants Commission (UGC) as an autonomous body, to aid and advise the government on higher education policy and financing, and to coordinate and maintain standards in higher education. Armed with statutory powers to prescribe standards, the UGC, as a sole regulator, went on to become the final word on all aspects of university life; it used its financing function as a mighty lever to curtail the powers of universities to take their own decisions.

During this 36 year-period, the number of universities grew rapidly to 150 — but only a fourth of them today find place in the NIRF list of the top 100 universities. The current and fourth phase began in 1992, with the establishment of a series of new regulators like the All India Council for Technical Education (AICTE), National Council for Teacher Education (NCTE), etc., and with the empowerment of existing professional bodies like the Medical Council of India (MCI), the Council of Architecture (CoA), the Bar Council of India (BCI), etc., to regulate higher education falling under their professional domains. The phase is characterised by an intense regulation of higher education by multiple regulators. This period also witnessed galloping growth in public and private universities; 589 universities have been established since 1992 — a mere 6 per cent were good enough to find a place in the top 100 list.

Sadly, the elaborate regulatory paraphernalia working overtime to set standards in higher education, and to inspect in order to ensure adherence by higher educational institutions, has only proven counter-productive. It has not only manifestly failed to promote excellence, it has even failed to check the rapid and unabated growth of a large number of grossly unequipped, mediocre higher educational institutions. Obviously, the absence of regulators did not necessarily destroy the universities, but most importantly, too close a monitoring and micro-management system by one or many regulators has not necessarily helped universities improve their performance. Lest the above conclusion is challenged on the ground that the older an institution gets, the better endowed it becomes in terms of funds, facilities and faculty, and hence, it is age, not regulation, that matters, two more bits of evidence become eminent. The first one, as presented in Table 2, speaks for itself. The fact that a significantly larger proportion of the IIMs (45 per cent), IITs (69 per cent) and IISERs (57 per cent) find place in the top 100 list, as compared to the ridiculously low proportion in the case of Central (24 per cent), Deemed (20 per cent), State (6 per cent) and Private (2 per cent) universities, clearly proves that institutions outside the purview of prominent regulators are, any day, better off than those under their direct command.

The second bit of evidence is all the more ubiquitous. None of the 16 central universities established in 2009 and onward find a mention in the top 100 list of universities. In contrast, at least three of the IIMs and three of the IITs established in 2009 or after have been able to make it to the top 100 list of the overall higher educational institutions. Similarly, four of the IISERs and one NIPER established in 2006 or after have made it to the coveted list. Such proof is more than a wake-up call for regulators in higher education, facing urgent existential challenges. While no one doubts their intentions or credibility, their approach is simply not working. The regulators need reform — and these reforms need to come from within.

The writer is secretary general of the Association of Indian Universities (AIU)



Date: 02-05-17

एक साथ चुनाव

नीति आयोग ने चुनाव आयोग को 2024 से लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने का सुझाव दिया है। उसने कहा है कि पहली बार कुछ विधानसभाओं के कार्यकाल में विस्तार या कटौती करनी पड़ सकती है। इस मसविदे को हाल में नीति आयोग की संचालक परिषद को सौंपा गया है, जिसमें सभी राज्यों के मुख्यमंत्री भी सदस्य होते हैं। नीति आयोग ने संबंधित पक्षकारों का कार्यसमूह गठित करके एक खाका तैयार कराने की बात भी कही है। गौरतलब है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने दोनों चुनावों को एक साथ कराने का मुद्दा उठाया था। उन्होंने कहा था कि इस विषय पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए क्योंकि इससे अलग-अलग समय पर होने वाला लंबा-चौड़ा खर्च कम हो जाएगा। पूर्व चुनाव आयुक्त एचएस ब्रह्मा ने इस पर एक टिप्पणी भी तैयार की थी। इसके बाद से चुनाव आयोग में इस पर विचार चल रहा है।

लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने का विचार बहुत नया हो, ऐसा भी नहीं है। पिछली सरकारों में भी समय-समय पर इस पर चर्चाएं होती रही हैं। विधि एवं न्याय विभाग से जुड़ी संसद की स्थायी समिति द्वारा दिसंबर 2015 में अपनी एक रिपोर्ट में एक साथ चुनाव कराने का समर्थन करने के बाद सरकार ने इस विषय पर चुनाव आयोग से राय मांगी थी। जनवरी 2017 में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने भी राष्ट्रीय मतदाता दिवस पर आयोजित एक कार्यक्रम में कहा था कि दोनों चुनाव साथ कराने से खर्च और प्रबंधन के संदर्भ में कठिनाइयों को कम करने में मदद मिल सकती है। राष्ट्रपति ने कहा था कि भारतीय मतदाता काफी परिपक्व हो चुका है। हालांकि, चुनाव आयुक्त नसीम जैदी ने दोनों चुनाव साथ कराने के प्रति कोई असहमति तो नहीं व्यक्त की थी, लेकिन बीती जनवरी में उन्होंने कहा था कि इसके लिए संविधान

संशोधन और अतिरिक्त संसाधनों की जरूरत पड़ेगी। चुनाव आयोग के मुताबिक दस हजार करोड़ रुपए, अधिक संख्या में ईवीएम और भारी सुरक्षा बलों की जरूरत पड़ेगी। सैद्धांतिक रूप से सहमति तो चुनाव आयोग ने दे दी है लेकिन ज्यादा कठिनाई इसे अमली जामा पहनाने में आएगी। सबसे पहले संविधान में संशोधन करना होगा, जिसके लिए सभी राजनीतिक दलों को इस पर एकमत कर पाना टेढ़ी खीर होगा। एक साथ चुनाव कराने का मतलब होगा कि जिन राज्यों में सरकारों का कार्यकाल पूरा नहीं हुआ है, उसे खत्म करना और जहां पूरा गया है, उसे बढ़ाना। ऐसे राजनीतिक दल हो सकते हैं, जिन्हें लगे कि इस प्रक्रिया में उनका नुकसान हो सकता है तो वे अपना पैर पीछे भी खींच सकते हैं। मान लीजिए, राजनीतिक दल निजी नफा-नुकसान छोड़ कर संशोधन पर सहमत हो जाते हैं तो एक दूसरी समस्या पैदा होगी कि अनुच्छेद 356 का क्या होगा क्योंकि खंडित जनादेश होने, सरकार अल्पमत में आने या किसी भी अन्य मुश्किल में सरकार का गठन न होने पर इसी अनुच्छेद के तहत राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है और छह महीने में चुनाव कराने के लिए कहा जाता है। दोनों चुनाव एक साथ कराने का कानून अगर बनता है तो जाहिर है कि इस अनुच्छेद को खत्म करना होगा। एक आशंका और है कि अगर अनिवार्य रूप से सरकार बनाने का प्रावधान लागू किया जाता है तो खरीद-फरोख्त और जोड़-तोड़ का खतरा बढ़ जाएगा। इन सबके बावजूद, अगर सारी शंकाओं को किनारे रखते हुए कोई सर्वमान्य रास्ता निकलता है तो सचमुच यह देश, समाज और लोकतंत्र के हित में होगा, ऐसी उम्मीद की जा सकती है।



THE HINDU

Date: 02-05-17

Lokpal and the law

The ruling that the existing legislation is workable is an indictment of the government

The Centre's obvious reluctance to set up a statutory anti-corruption institution stands completely exposed after the Supreme Court made it clear that the existing Lokpal and Lokayuktas Act, 2013 is workable on its own, without having to be amended as proposed by the government. The court's order that the law, notified in 2014, is good to go is an indictment of the delay in establishing the Lokpal. It is a rejection of the attempt to explain the delay on the ground that a parliamentary standing committee's report on proposed amendments is still under consideration. The government was on weak legal footing when it claimed it was awaiting the passage of these amendments, mainly of one that related to the leader of the largest party in opposition in the Lok Sabha being considered as the Leader of the Opposition for the purposes of forming the Selection Committee to choose the Lokpal. The selection panel consists of the Prime Minister, the Speaker of the Lok Sabha, Leader of the Opposition, the Chief Justice of India or his nominee, and an eminent jurist chosen by them. The court has noted that the Act provides for the selection committee to make appointments even when it is truncated due to a vacancy. It has made it clear that the fact that some amendments have been proposed and a parliamentary panel has submitted a report would not constitute a legal bar on enforcing the existing law. The court has rightly refused to read down the provision on the Leader of the Opposition to mean "the leader of the largest party in the opposition".

At the same time, it is curious that an amendment to this effect is pending since 2014, even after it was endorsed by the parliamentary committee in its December 2015 report. Provisions relating to the selection of the Chief Information Commissioner and the Central Bureau of Investigation Director have been amended to treat the leader of the largest opposition party as the Leader of the Opposition in the absence of anyone recognised as such. The delay in passing this simple amendment is inexplicable. Another provision relating to

the declaration of assets by public servants was amended last year. A simple way of resolving the impasse was to recognise the Congress party leader in the Lok Sabha as the Leader of the Opposition. There is no law, except a direction from the chair when G.V. Mavalankar was Speaker, that says recognition is given only to a party that has won 10% of the seats in the Lower House. A 1977 Act on the salary of the Opposition Leader defines the position as the leader of the largest party in the opposition and recognised as such by the Speaker. An inescapable inference is that the country does not have an anti-corruption ombudsman not due to any legal bar, but due to the absence of political will.

Date: 02-05-17

Equity in taxes

Rich farmers should be treated on par with other taxpayers

Rich farmers need to be treated on a par with other taxpayers, but with a clear road map

A controversial proposal by Bibek Debroy, a member of the government think tank NITI Aayog, to tax agricultural income above a particular threshold has led to a public exchange of views. Finance Minister Arun Jaitley quickly dismissed any plans to tax farm income, but more policymakers have begun to voice their opinion, the latest being Chief Economic Adviser Arvind Subramanian who made it clear that taxing farm income is a State subject. The public image of farming being a poor man's venture and the sizeable vote share that farmers enjoy have made the idea of farm taxes a political taboo. The frequent distress faced by poor or marginal farmers, which could be attributed to structural issues other than taxation, hasn't helped matters either. But India has a presence of rich farmers as well and there exists as a strong justification for taxing them in order to widen the country's embarrassingly narrow tax base. Mr. Debroy suggested that an appropriate tax policy should draw a distinction between rich and poor farmers, thereby addressing the widespread political apprehension of bringing agriculture under the tax net. It is no secret that India's tax base, standing at a minuscule 5.9% of the working population, is already among the lowest in the world. This unnecessarily burdens the more formal sectors of the economy that are already overtaxed; at the same time, it handicaps government spending on the social sector. The case for treating agriculture on a par with other sectors is thus clear. But policymakers must also show equal care and urgency in addressing the structural issues facing the sector. This includes, among many, reforms to the broken agricultural supply chain that still leaves farmers at the mercy of middlemen cartels. Such reforms are crucial if farming is to become a sustainable enterprise in the long run. Else, a tax on high-income farmers will result only in driving resources away from agriculture into other sectors. It would make no difference to poorer farmers stuck in agriculture, merely because of the lack of opportunities. In this context, the historical transition of labour and other resources from agriculture into other sectors is particularly useful to keep in mind. The said transition has been very slow in India; in fact, according to Census figures, the size of the farm workforce increased by 28.9 million between 2001 and 2011. This is due to a combination of factors, but one in particular is worth noting: the difficulty agricultural workers face in finding jobs in other more advanced sectors. A tax on lucrative high value farm ventures, which affects their ability to absorb labourers from low-value farming, could make life more difficult for farmers unable to make the cut in industry or services. Given this, policymakers ought to tread carefully as they move forward on a long overdue fiscal reform.

राष्ट्रीय सहारा

Date: 02-05-17

रेरा का आगाज

रियल एस्टेट यानी भवन निर्माण एवं बिक्री क्षेत्र के नियमन की मांग 1 मई 2017 से मूर्त रूप ले रहा है। नौ वर्षों के लंबे इंतजार के बाद रियल एस्टेट (रेग्युलेशन ऐंड डिवेलपमेंट) ऐक्ट 2016 यानी रेरा एक साथ पूरे देश में लागू हो रहा है। इस कानून का लक्ष्य भवन निर्माण एवं खरीद बिक्री को सही नियमों के दायरे में लाकर इसमें छाई अनियमितता, अपारदर्शिता एवं भ्रष्टाचार का अंत करना है। माना जा रहा है कि यह कानून एक ओर जहां खरीदारों को हर स्तर पर सुरक्षा का अहसास कराएगा वहीं इस क्षेत्र के कारोबारियों के लिए भी दूरगामी दृष्टि से लाभकारी होगा। रियल एस्टेट क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख अंग होने के बावजूद अनेक प्रकार की विसंगतियों का शिकार रहा है। हम आए दिन बिल्डरों से खरीदारों के धोखा खाने या बिल्डरों के कानून का पालन न करने के कारण परियोजनाओं के लटक जाने की शिकायत सुनते रहे हैं। इसका अंत किया जाना हर हाल में जरूरी था। अब इसके लिए एक नियामक प्राधिकरण या रेग्युलेटरी अथॉरिटी की स्थापना हो गई है। इस कानून के तहत सिर्फ रियल एस्टेट कंपनियों को ही नहीं बल्कि बिचौलिए की भूमिका निभाने वाले रियल एस्टेट एजेंट को भी अपना निबंधन कराना होगा। इन रियल एस्टेट एजेंट्स को एक तय शुल्क भी नियामक को जमा करनी होगी। अगर ये एजेंट भी खरीदार से झूठे वादे करने के दोषी पाए गए तो इन पर भी कानून का वैिक कसेगा। इस कानून के दायरे में सिर्फ प्राइवेट बिल्डर या डिवेलपर्स ही नहीं डीडीए, जीडीए जैसे सरकारी विभाग भी आएंगे। वाणिज्यिक परियोजनाओं में भी रियल एस्टेट नियामक कानून लागू होगा। अब तक यह क्षेत्र काला धन के ठिकाने के रूप में बदनाम रहा है। इसमें पारदर्शिता आएगी। चूंकि सारा ब्योरा नियामक के पास होगा इसलिए उनकी साख बढ़ेगी और लोगों का विास उनके प्रति जमेगा। स्वाभाविक ही उन्हें बैंकों और वित्तीय संस्थानों ही नहीं बल्कि बाजार से भी परियोजनाओं के लिए धन पाने में कठिनाई नहीं आएगी। साथ ही सरकारी विभागों से एनओसी लेने में भी ज्यादा झंझट नहीं होगा। इस तरह यह कानून खरीदार और कारोबारी दोनों के लिए लाभकारी होगा।



कृषि पर कर

नीति आयोग के सदस्य बिबेक देबराय ने चंद दिनों पहले कृषि आय पर कर लगाने की जो वकालत की थी उसे वित्त मंत्री ने सिरे से खारिज अवश्य कर दिया था, लेकिन ऐसा लगता है कि यह सवाल आसानी से ओझल नहीं होने वाला कि आखिर अमीर किसानों को कर के दायरे में क्यों नहीं लाया जा सकता? गत दिवस मुख्य आर्थिक सलाहकार अरविंद सुब्रमण्यम ने न केवल यह सवाल उछाला कि अमीर और गरीब किसानों में अंतर करने में क्या परेशानी है, बल्कि यह भी पूछा कि राज्य सरकारें धनी किसानों को कर के दायरे में लाने के लिए कुछ क्यों नहीं कर सकती? इसमें कोई हर्ज नहीं कि उनके इन सवालों के बाद इस पर बहस आगे बढ़े कि क्या अमीर किसानों को कर के दायरे में लाया जाना चाहिए? अमीर किसानों से कर वसूली राजनीतिक दृष्टि से एक संवेदनशील मसला भले हो, लेकिन समझदारी इसी में है कि इस मुद्दे पर व्यापक बहस हो। केवल इस आधार पर इस बहस से कतराने का कोई मतलब नहीं कि केंद्र सरकार को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार नहीं। चूंकि संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार केंद्र सरकार के पास कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार नहीं है इसलिए वह इस मामले में कुछ नहीं कर सकती, लेकिन राज्य सरकारें चाहें तो इस दिशा में सोच-विचार कर सकती हैं। समय की मांग है कि इस पर सोच-विचार हो। यह सही है कि देश में औसत किसानों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं, लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि देश में अमीर किसान हैं ही नहीं।

कम से कम इसकी पड़ताल तो की ही जानी चाहिए कि खेती से अच्छी-खासी कमाई करने वाले किसान कितने हैं और क्या वे इस स्थिति में हैं उनसे किसी तरह थोड़ा ही सही, टैक्स वसूला जा सके। दुर्भाग्य से इस पड़ताल में यदि कोई मुश्किल है तो वह है राजनीतिक दलों का रवैया। जिस तरह वे आरक्षण के मसले पर नीर-क्षीर ढंग से विचार करने के लिए तैयार नहीं उसी तरह वे यह सुनते ही बिदक जाते हैं कि क्या किसानों को टैक्स के दायरे में लाया जा सकता है? बार-बार यह सामने आ रहा है कि एक बड़ी संख्या में कारोबारी ऐसे हैं जो खेती के बहाने टैक्स चोरी करते हैं। कुछ तो ऐसे भी हैं जो अपने कालेधन को कृषि आय के रूप में दिखाते हैं। इसी तरह कुछ ऐसे भी किसान हैं जो बड़ी जोत के मालिक हैं। आखिर जब खुद केंद्र सरकार यह मान रही है कि तमाम लोग टैक्स से बचने के लिए अपनी आय कृषि आधारित दिखा रहे हैं तब फिर उसे राज्यों के सहयोग से ऐसे कदम उठाने पर विचार क्यों नहीं करना चाहिए जिससे खेती पर कर न लगाने के प्रावधान का दुरुपयोग रुके? अभी तो यह स्थिति है कि कई अमीर व्यवसायी कृषि योग्य जमीन खरीद कर कागजों पर किसान बने जा रहे हैं।